दिनकर का युद्ध–दर्शन : 'कुरूक्षेत्र' के सन्दर्भ में

पूनम काजल
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर,
हिन्दी विभाग,
हिन्दू कन्या महाविद्यालय,
जींद

सारांश

युद्ध की समस्या मनुष्य की शाश्वत समस्या है। यही सब समस्याओं की जड़ है। कवि दिनकर ने अपने प्रबन्ध काव्य 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध की समस्या पर गहन चिन्तन करते हुए इस समस्या को नए और विस्तृत धरातल पर देखा है। एक नव्य सोच के साथ वे युद्ध और शांति के सम्बन्ध में अपनी मौलिक विचारधारा को प्रतिपादित करते हैं। दिनकर मानते हैं कि न्यायोचित अधिकारों की प्राप्ति हेतु युद्ध पाप नहीं, पुण्य है। अन्यायी, अत्याचारी के विरूद्ध युद्ध आवश्यक है, अन्यथा वह इसे कायरता समझ और अधिक अन्याय में प्रवृत्त होता जाता है। समाज में इससे अशांति और संघर्ष उपजता है। अतः समाज तथा विश्व में शांति स्थापना हेतु अनेक बार युद्ध अनिवार्य हो जाता है।

मुख्य शब्द : विरुदावली, स्वीकारोक्ति, निन्द्य, परिणति, पुनर्मूल्यांकन।

प्रस्तावना

मनुष्य चराचर से वन्दित सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी है। ज्ञान–विज्ञान का आगार है, परन्तु वह हिंसक पशु बना हुआ है। आज अपने समस्त अर्जित ज्ञान को वह मानवता के विध्वंस के लिए प्रयोग में ला रहा है। विश्व में आज अणु व परमाणु बम बनाने की होड़ लगी हुई है। जापान के हिरोशिमा व नागासाकी पर अणु बम गिराकर दिल दहला देने वाले परिणाम देखने के बाद भी मनुष्य संभला नहीं है। आज जबकि समूचा विश्व हथियारों के जखीरे पर बैठा है, एक अनजाना भय आम जनमानस के हृदय में व्याप्त है। ऐसी भयावह स्थिति में कवि जहाँ एक ओर स्वत्व–प्राप्ति हेतू युद्ध की अनिवार्यता मानते हैं, वहीं दूसरी ओर समता, सद्भावना व विश्व मैत्री की शुभेच्छा रखते हैं –

> "श्रेय होगा मनुज का समता–विधायक ज्ञान,
> स्नेह–सिंचित न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
> एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास,
> धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास।"[1]

अध्ययन काल

समसामयिक परिवेश के प्रति जागरूक एवं भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा रखने वाले रामधारी सिंह 'दिनकर' सच्चे अर्थों में एक युगचेता साहित्यकार हैं। अपनी रचना 'उर्वशी' के लिए भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित दिनकर आधुनिक युग के श्रेष्ठ वीर रस कवि के रूप में प्रख्यात हैं। सन् 1946 में लिखित उनके काव्य–ग्रंथ 'कुरूक्षेत्र' का ताना–बाना महाभारत के 'शांति पर्व' को केन्द्र में रखकर बुना गया है। दूसरे विश्वयुद्ध की विभीषिका से आहत कवि सोचने पर विवश हो जाते हैं कि क्या युद्ध ही मानव जाति की अन्तिम परिणति है? सत्य तो यह है कि युद्ध के कारणों व भयावह परिणामों पर चिन्तन करते–करते यह काव्य लिखा गया है।

साहित्यावलोकन

विश्व के सभी महान विचारकों ने युद्ध को निन्दनीय कहा है, लेकिन दिनकर की मान्यतानुसार युद्ध तब तक अनिवार्य है जब तक व्यक्तिगत व समुदायगत स्वार्थों के संघर्ष की चिंगारियाँ उठ रही हैं। दिनकर मानते हैं कि अनीति पर आधारित शांति अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध का अनिवार्य कारण होती है। जब अनीति से दुर्बलों का धन अपहृत कर कोष संचित किए जाते हों और किसी को इसके विरुद्ध बोलने का भी अधिकार न हो, सत्ता हस्तगत कर सुख का विभाजन अनीति पर आधारित हो, समाज के सूत्रधार अन्यायी एवं अत्याचारी हों, अन्याय सहते–सहते मनुष्य का मन कुंठित हो गया हो, तो वहाँ ऊपर–ऊपर की शांति होती हैं, अन्तर में एक चिंगारी स्थित होती है, जो किसी दिन युद्ध की ज्वाला बन फूट पड़ती है–

> "युद्ध को तुम निन्द्य करते हो, मगर,
> जब तलक हैं उठ रही चिंगारियाँ,
> भिन्न स्वार्थों के कुलिश–संघर्ष की,

युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।"[2]

अध्ययन का उद्देश्य

युद्ध का उन्माद संक्रमणशील है। युद्ध की एक चिंगारी अपनी लपटों से समूचे समाज को घेर लेती है। युद्ध की विभीषिका से सभी परिचित हैं। कोई युद्ध नहीं करना चाहता, परन्तु समयानुसार अनीतियों के निरन्तर बढ़ते रहने पर कोई महाविस्फोट अवश्य होता है। आधुनिक कृष्ण–कथा लेखक नरेन्द्र कोहली ने भी अपने 'प्रत्यक्ष' उपन्यास में कुछ ऐसे ही विचारों को वाणी प्रदान की है – "पाप और अधर्म का विस्तार और प्रसार तभी होता है जब राक्षसत्व दंडित नहीं होता, जब क्षत्रिय भी अपनी कोमलता, भीरूता, दया अथवा करूणा के वश में हो कर दंड का त्याग कर देते हैं .... यह शांति और संधि की आतुरता ही थी, जिसने अधर्म को इस सीमा तक पैर पसारने के अवसर दिए और इस भंयकर युद्ध की आवश्यकता आ पड़ी।"[3]

दिनकर ने निज अधिकारों की प्राप्ति हेतु युद्ध एवं संघर्ष को अनिवार्य माना है। स्वाधिकार–प्राप्ति मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है, चाहे वह युद्ध के द्वारा ही प्राप्त क्यों न हो–

"छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग–तप से काम ले यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।"[4]

सच तो यह है कि महाभारत की कथा का आलम्बन ले कर दिनकर ने युद्ध की आधुनिक समस्या को उठाया है। सदियों से चली आ रही युद्ध की समस्या ने आधुनिक युग में और भी विकराल रूप धारण कर लिया है। महाभारत की कथा का आलम्बन ले कर दिनकर पाठकों के समक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं – "युद्ध निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु, उसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न–भिन्न कर देने के लिए आतुर है? पांडवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शांति की रचना तो दुर्योधन ने भी की थी; तो क्या युधिष्ठिर महाराज को इस शांति को भंग नहीं करना चाहिए था।"[5]

दिनकर इस तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं कि समाज कभी भी युद्ध नहीं चाहता, केवल दुर्योधन व कर्ण जैसे स्वार्थी एवं सत्तालोलुप राजनेता ही युद्ध का कारण बनते हैं। शांति प्रिय मनुष्य युद्ध से पूर्व युधिष्ठिर की भाँति सदैव शांति–स्थापना का उपाय खोजते हैं, परन्तु न चाहते हुए भी उन्हें युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ता है। इस समस्या और उससे जुड़े अनेक प्रश्नों को हल करने के लिए रचनाकार ने आदर्श पात्रों को 'युद्ध करना उचित है अथवा नहीं?' इस संशय से जूझते दिखाया है। मानवीय प्रवृत्तियों के साथ ही यथार्थ जगत में वर्तमान दानवी प्रवृत्तियों और उनके घातक परिणामों पर विचार करते ही उनके सक्रिय प्रतिरोध की आवश्यकता अनुभव होती है, ताकि सत प्रवृत्तियों, मानवीय मूल्यों और सत्य का मार्ग प्रशस्त हो सके। साम्राज्यवादी शोषक, पीड़क दुष्प्रवृत्तियों के दमन या सक्रिय प्रतिरोध की आवश्यकता का अनुभव ही युद्ध की अनिवार्यता का अनुभव कराता है। इस प्रकार युद्ध की स्वीकारोक्ति में भी मानवता और मानवीय मूल्यों के संरक्षण की भावना निहित है, जो अति आदर्शवादी, आव्यावहारिक दृष्टिकोण की अपेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक एवं वास्तविक है। सत्य तो यह है कि महाभारत के युद्ध में केवल कौरवों–पांडवों के ही हितों का संघर्ष नहीं था, अपितु समस्त समाज की समस्याओं का हल निहित था। यह अन्याय के विरुद्ध न्याय का, पाप के विरुद्ध पुण्य का तथा अनीति के विरुद्ध नीति का युद्ध था–

"न्यायोचित सुख सुलभ नहीं,
जब तक मानव–मानव को,
चैन कहाँ धरती पर, तब तक
शांति कहाँ इस भव को?"[6]

युद्ध का प्रभाव मानव–जीवन के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सभी पक्षों पर पड़ता है। युद्ध के दुष्परिणामों को रेखांकित करते हुए ओंकारनाथ श्रीवास्तव ने भी लिखा है कि युद्ध सदा ही घातक सिद्ध होते हैं, इसमें न केवल जन–धन की ही हानि होती है, बल्कि समाज में अनास्था, कुंठा, निराशा, अनिश्चितता को भी बढ़ावा मिलता है। सामाजिक अराजकता और मर्यादा हीनता की भीषण परिणति होती है। विश्व–युद्धों में मानव अपने में भयंकर खोखलापन और नैतिक दीवालियापन अनुभव करने लगता है।

यह सत्य है कि विज्ञान की समर्थता से आज मनुष्य ने जल, विद्युत, भाप, वायु, सरित, पर्वत, सिन्धु व गगन–सभी को अपने समक्ष नतमस्तक कर लिया है, परन्तु इससे उसका बुद्धिपक्ष ही समृद्ध हुआ है, ह्रदय पक्ष तो संकुचित ही रह गया है–

"किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह ह्रदय का देश,
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।"[8]

सदियों से विचारक युद्ध को मानवता–विरोधी बताकर मनुष्य को युद्ध से निरत करने का प्रयास करते रहे हैं, लेकिन आदिकाल से लेकर आज तक मानव निरन्तर युद्धों का आयोजन करता रहा है। आज दो महायुद्धों ने मानव जाति को विश्वास दिला दिया है कि युद्ध अभिशाप है। निरा अनिष्ट और कुकृत्य है। अतः युद्ध का बहिष्कार आवश्यक है, लेकिन यह भी ज्वलंत सत्य है कि युद्ध की प्रवृत्ति लाखों वर्षो के मानवीय विकास और ह्रास के बावजूद अभी तक उसी ताज़गी के साथ मानव–समाज के भीतर पाई जाती है, जिस रूप में वह आदिमकाल के बर्बरतम मनुष्यों में वर्तमान थी। युद्ध के पश्चात् हुए विनाश को देखकर निरूपाय और असहाय होकर मनुष्य को अनचाही पीड़ा भोगनी पड़ती है। महाभारत युद्ध में हुई विनाश लीला युधिष्ठिर को भीतर तक झकझोर देती है–

"सब शूर सुयोधन साथ गए,
मृतकों से भरा यह देश बचा है,
मृतवत्सला माँ की पुकार बची,
युवती विधवाओं का वेश बचा है।"[9]

निष्कर्ष

आधुनिक युग में मानव जाति के सिर पर युद्ध का भय सदैव मंडराता रहता है। युद्ध के खतरे को समझ कर विश्व–शान्ति हेतु अब विचारकों द्वारा युद्ध को रोकने के प्रयास जारी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में जब देश एक–दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो वे अपने राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि मानते हैं। इसलिए युद्ध और शांति जैसी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर उनका दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न होता है। इस प्रकार एक ओर जहाँ विश्वव्यापी युद्धों की विभीषिका बरकरार है, वहीं शांति के प्रयास भी जारी हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जब तक संसार के समस्त आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों के पुनर्मूल्यांकन द्वारा एक ऐसी विश्वव्यापी सामाजिक व्यवस्था समस्त राष्ट्रों के संगठित प्रयत्नों द्वारा नहीं होती, जो समता और व्यापक मानवीय सहयोग के आधार पर प्रतिष्ठित हो, तब तक सम्पूर्ण सृष्टिचक्र की कोई भी शक्ति युद्ध की प्रवृत्ति को मनुष्य की अन्तर्चेतना से निकालने में समर्थ नहीं हो सकती।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1974, पृ0 88*
2. *रामधारी सिंह दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1974, पृ0 23*
3. *नरेन्द्र कोहली, प्रत्यक्ष (महासमर–7), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000 पृ0 321–322*
4. *रामधारी सिंह, दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1974, पृ0 22*
5. *रामधारी सिंह, दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1974, पृ0 5*
6. *रामधारी सिंह, दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1974, पृ0 95*
7. *रामधारी सिंह, दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1974, पृ0 82*
8. *रामधारी सिंह, दिनकर, कुरुक्षेत्र, राजपाल एंड संस, नई दिल्ली, 1974, पृ0 72*